

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

पौष : २४८२



वर्ष ग्यारहवाँ



अंक नौवाँ



: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील



महा सिद्धान्त



[१] हे जीव ! अनादि से लेकर आज तक किसी पर जीव या जड़ ने तुझे किंचित् भी हानि नहीं की है ।

[२] अनादि से आज तक किसी अन्य जीव या जड़ को तूने किंचित् भी लाभ या हानि नहीं की है ।

[३] अनादि से अज्ञानभाव के कारण तूने अपने आत्मा की हानि की है ।

[४] वह हानि तेरे त्रैकालिक द्रव्य-गुण में नहीं हुई है, किन्तु वर्तमान-पर्यंत क्षणिक अवस्था में ही हुई है ।

[५] तेरा त्रैकालिक स्वभाव शुद्ध है; उस स्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन कर तो पर्याय में से अनादिकालीन हानि दूर हो और धर्म का अपूर्व लाभ प्रगटे ।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२९

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री गोम्मटसारजी में 'योग्यता' का स्पष्ट कथन

“अत्रोपयोगी श्लोकः—

निमित्तमांतरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।

बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः॥

इहां प्रासंगिक श्लोक कहिए है—(उपरोक्त श्लोक)

(श्लोक का अर्थः—) तीहिं वस्तुविषे तिष्ठति परिणमनरूप जो योग्यता सो अंतरंगनिमित्त है, बहुरि तिस परिणमन का निश्चयकाल बाह्य निमित्त है—ऐसे तत्त्वदर्शीनिकरी निश्चय किया है ॥५८०॥”

—देखिये, श्री गोम्मटसार-जीवकांड गाथा ५८० की टीका; बड़ा पुस्तक पृष्ठ १०२२-२३

(प्रचलित हिन्दी अर्थः—) उस वस्तु में विद्यमान परिणमनरूप जो योग्यता है, वह अंतरंग-निमित्त है, और उस परिणमन में निश्चयकाल बाह्य निमित्त है—ऐसा तत्त्वदर्शियों द्वारा निश्चय किया गया है।

नोटः—(१) यहाँ अंतरंगनिमित्त कहने से क्षणिक उपादानकारण और बाह्य निमित्त कहने से निमित्तकारण समझना चाहिये।

(२) यहाँ “परिणमनरूप योग्यता” कहकर उस वस्तु की पर्याय का स्वकाल है, और उसमें बाह्य निमित्त कहा, वह परकाल है।

(३) यहाँ “परिणमनरूप योग्यता”—ऐसा कहा है, यह वस्तु की त्रिकाली योग्यता की बात नहीं है किन्तु उसकी समय-समय होनेवाली पर्याय की योग्यता की बात है;—यह बात खास तौर से ध्यान में रखने योग्य है।

(४) प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, निमित्त के कारण कुछ नहीं होता—ऐसा जो योग्यता का स्पष्ट सिद्धान्त पूज्य गुरुदेव समझाते हैं, उसे सुनकर अनेक विद्वान कहते हैं कि—“योग्यता के लिये कोई शास्त्राधार है?”—इसीलिये यहाँ श्री गोम्मटसारशास्त्र में से एक मुख्य और स्पष्ट आधार दिया है; दूसरे अनेक शास्त्रों में भी तत्सम्बन्धी स्पष्ट कथन आता है।



आत्मधर्म



पौष : २४८२



वर्ष ग्यारहवाँ



अंक नौवाँ



आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[१८]

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार]

* जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—‘प्रभो ! आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

* श्री आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि आत्मा अनन्तधर्मोवाला एक द्रव्य है और अनन्त नयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है। ऐसे आत्मद्रव्य का यहाँ वर्णन हो रहा है।

(३२) पुरुषकारनय से आत्मा का वर्णन

“आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है,—जिसे पुरुषकार से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है—ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति।” आत्मा में एक ऐसा स्वभाव है कि उसकी सिद्धि यत्न-साध्य है। जिसप्रकार कोई आदमी नीबू का बीज बोये और उसके नीबू का वृक्ष उत्पन्न हो; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव सन्मुख होकर उसकी रुचि और एकाग्रता के प्रयत्न द्वारा आत्मा की सिद्धि प्राप्त होती है।—ऐसा जाननेवाला पुरुषकारनय है। ऐसे पुरुषकारनय के बिना नियतिनय या कालनय नहीं होते। सभी नयों से—सभी पक्षों से द्रव्य को जानकर प्रतीति में लेना चाहिये। पुरुषार्थ से ही आत्मा की सिद्धि होती है—ऐसा धर्म आत्मा में त्रिकाल है।—कौन-सा पुरुषार्थ ? निमित्त

की या राग की ओर का पुरुषार्थ कहीं मुक्ति का कारण नहीं है, किन्तु आत्मोन्मुख होकर स्वभाव का पुरुषार्थ, वह मुक्ति का कारण है। ऐसे प्रयत्न के बिना आत्मा की सिद्धि साध्य नहीं होती। यत्न-साध्य हो—ऐसा धर्म किसका है? वह आत्मद्रव्य का धर्म है; इसलिये आत्मा की ओर देखना रहा; अन्तर्मुख आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता के प्रयत्न से ही धर्म होता है।

नियतिनय या कालनय के वर्णन में भी यह पुरुषार्थधर्म वस्तु में साथ ही है। इस पुरुषार्थ-धर्म को उड़ाकर अकेली नियति को माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसने वास्तव में आत्मा को नहीं माना है। और पुरुषार्थ के समय अन्य अनन्तधर्म भी साथ ही हैं, इसलिये पुरुषार्थ करनेवाले को भी अकेले पुरुषार्थधर्म की ओर नहीं देखना है, किन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य की ओर देखना है, क्योंकि पुरुषार्थधर्म आत्मा का है। अन्तर-प्रयत्न से मुक्ति हो—ऐसा मेरा आत्मा है—इस प्रकार यत्नसाध्य धर्म द्वारा आत्मा के लक्ष में ले, वह पुरुषकारनय है। इसके बाद अब दैवनय से अयत्नसाध्य धर्म का वर्णन करेंगे, किन्तु उससमय भी यह पुरुषार्थधर्म तो साथ ही है, पुरुषार्थ के बिना अकेला दैव नहीं है। एक ही धर्म का एकांत खींचे और उसी समय आत्मा के दूसरे धर्म साथ वर्तते हैं, उन्हें स्वीकार न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके सभी नय मिथ्या हैं। ज्ञानी तो अनन्त धर्मों के आधारभूत अपने शुद्ध चैतन्यद्रव्य की दृष्टि रखकर, प्रमाणज्ञानपूर्वक प्रत्येक धर्म को उस-उस प्रकार के नय से जानते हैं, इसलिये ज्ञानी के ही सम्यक्नय होते हैं—ऐसा समझना।

—इसप्रकार ३२ वें पुरुषकारनय से आत्मा का वर्णन किया।



(३३) दैवनय से आत्मा का वर्णन

“आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है ऐसा है,—पुरुषकारवादी द्वारा दिये गये नीबू के वृक्ष के अन्दर से जिसे (यत्न बिना, दैव से) माणिक प्राप्त होते हैं—ऐसे दैववादी की भाँति।”

यहाँ दैववादी का उदाहरण देकर समझाया है। बड़े पुण्यवान् पुरुषों के मस्तिष्क में और हाथी के मस्तिष्क में मुक्ताफल-मोती पैदा होते हैं; उसी प्रकार किसी जीव के पुण्यप्रताप से नीबू के वृक्ष में से मोती निकल पड़ते हैं; वहाँ उसने मोती प्राप्त करने का यत्न नहीं किया था और प्राप्त हो गये, इसलिये उसे दैव कहा। उसी प्रकार जो जीव, स्वभाव की ओर के प्रयत्न से मोक्षमार्ग की

साधना करता है, उसके कर्म स्वयमेव टलते जाते हैं; कर्मों को टालने की ओर का उसका पुरुषार्थ नहीं है; इसलिये उसे दैव कहा है। किन्तु जिसप्रकार दैववादी को नीबू में से मोती मिले, उसमें भी उसको उसप्रकार का पुण्य है; उसी प्रकार दैवनय से आत्मा के यत्न बिना कर्म टले और मुक्ति हुई—ऐसा कहा जाता है, उसमें भी स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ तो है ही। अन्तर में चैतन्यस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया, वहाँ जड़ कर्मों का अभाव स्वयमेव हो जाता है; उसे टालने का यत्न नहीं करना पड़ता—इस अपेक्षा से आत्मा की सिद्धि अयत्नसाध्य कही जाती है। दैवनय में ऐसा नहीं है कि कर्म मार्ग दे, तब मुक्ति होती है, उसमें जीव का पुरुषार्थ नहीं चल सकता! जब जीव अपने स्वभाव का पुरुषार्थ करता है, तब कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं, उसमें यत्न नहीं करना पड़ता; इसलिये उसका नाम दैव है।

किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और किसी को दैव से—इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है, प्रत्येक आत्मा में यह दोनों धर्म विद्यमान हैं। दैवनय के समय दूसरे नयों की विवक्षा का ज्ञान भी साथ ही होना चाहिये; तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहलाता है। पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति हुई—ऐसा न कहकर कर्म टले और मुक्ति हुई, अथवा दैव से मुक्ति हुई—ऐसा कहना, सो दैववाद है, किन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ की स्वीकृति तो साथ है ही। यत्नसाध्य स्व-अपेक्षा से है, और अयत्नसाध्य पर-अपेक्षा से; अपने में पुरुषार्थ है और पर में पुरुषार्थ नहीं है। स्व के पुरुषार्थ के साथ कर्म के अभावरूप दैव भी हैं। इस दैवनयवाले को भी आत्मसन्मुखता है, उसके कहीं पुरुषार्थ का निषेध नहीं है।

जब जीव के स्वभाव का पुरुषार्थ होता है, तब दैव भी ऐसा ही होता है कि जड़कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं; उन्हें टालने के लिये यत्न नहीं करना पड़ता। वहाँ, कर्म टालने से आत्मा की मुक्ति होती है—ऐसा दैवनय का कथन है। किन्तु कर्म टलते कब हैं? कर्मों की ओर देखने से कर्म नहीं टलते, किन्तु स्वभावसन्मुख एकाग्रता का प्रयत्न करने से कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। पुरुषार्थ की विवक्षा गौण करके दैवनय में कर्म की विवक्षा से कथन किया है। वस्तु में तो पुरुषार्थ आदि अनंत धर्म एक साथ विद्यमान हैं, उसमें एक मुख्य और दूसरा गौण—ऐसे प्रकार नहीं हैं; अभेद वस्तु में सभी धर्म एकसाथ हैं। किन्तु छद्मस्थ ज्ञान में नय पड़ते हैं, उन नयों में मुख्य-गौण होते हैं। एक नय दूसरे नयों के विषयभूत धर्मों को गौण करता है, किन्तु उनका सर्वथा निषेध नहीं करता। यदि दूसरे धर्मों का सर्वथा निषेध करे तो अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप ही सिद्ध

नहीं हो सकता अर्थात् वस्तु का प्रमाणज्ञान ही नहीं होता। और प्रमाण के बिना नय भी कहाँ से होंगे ? नहीं हो सकते; क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है।

दैवनय से अयत्नसाध्य है—ऐसा कहा, वह धर्म भी आत्मा का है; इसलिये दैवनयवाला भी आत्मोन्मुख होकर उसके धर्म को जानता है; इसप्रकार दैवनय में भी द्रव्य की ओर का पुरुषार्थ आ ही जाता है। दैवनय जिस धर्म को लक्ष में लेता है, वह धर्म पर का नहीं किन्तु आत्मा का है; इसलिये आत्मा की ओर दृष्टि करे, उसी को उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है। कर्मों की ओर देखने से दैवनय की प्रतीति नहीं होती, किन्तु आत्मा की ओर देखने से उसकी प्रतीति होती है। आत्मद्रव्य में ही मुक्ति होने का धर्म है; वह धर्म कहीं कर्म में से नहीं आता, किन्तु वह आत्मा का ही धर्म है। आत्मा के स्वभाव पर दृष्टि हुई, वहाँ पर्याय और कर्म के ऊपर की दृष्टि गई और ऐसे धर्मों का भान हुआ। इसमें अपनी महिमा आना चाहिए कि अहो ! यह सब तो मेरे धर्मों का ही वर्णन है, इसमें पर की महिमा कहीं नहीं है किन्तु मेरे चैतन्यस्वभाव की ही महिमा है; अनेक नयों की विविध विवक्षा से वर्णन किया है, वह तो मेरे स्वभाव की विशालता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव की महिमा लाकर समझना चाहिये—अरुचि नहीं होना चाहिये।

“आठ कर्मों का अभाव होने पर आत्मा की मुक्ति होती है”—ऐसा कहने में कर्म की ओर देखना नहीं है, किन्तु आत्मा की ओर देखना है, क्योंकि मुक्ति आत्मा की होती है, आत्मा के ही स्वभाव में से मुक्ति आती है। यह पुरुषार्थ, दैव आदि जितने धर्मों का वर्णन किया है; उसमें पर या विकार के ऊपर भार नहीं दिया है; क्योंकि यह धर्म, पर के या विकार के आधार से नहीं हैं; और एक-एक धर्म पृथक् नहीं रहता; इसलिये उस एक-एक धर्म पर भी भार नहीं दिया है; अखण्ड आत्मा के आश्रय से ही यह सब धर्म एक साथ स्वभावोन्मुख होते ही हैं। धर्म किसका ? तो कहते हैं धर्मों का; धर्मों अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा; वह अखण्ड आत्मा शुद्ध-चैतन्यमूर्ति है, उसी पर भार देना है। भार देने का अर्थ क्या ? श्रद्धा-ज्ञान के बल को अखण्ड स्वभाव की ओर उन्मुख करके उसमें एकाग्र होना;—वह शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है। इस समय “आत्मा कौन है ?”—यह आचार्यदेव समझाते हैं, और अब आत्मा की प्राप्ति के उपाय का वर्णन करेंगे।

यहाँ ‘यत्नसाध्य’ और ‘अयत्नसाध्य’—ऐसे दो धर्म कहे; वे दोनों धर्म प्रत्येक आत्मा में एक साथ हैं। यह धर्म चैतन्यद्रव्य के आश्रय से विद्यमान हैं, पर्याय के आश्रय से नहीं हैं; इसलिये पर्यायबुद्धि छोड़कर चैतन्यद्रव्य की ओर देखने से इन धर्मों की यथार्थ पहिचान होती है,

पर्यायबुद्धिवालों को इन धर्मों की पहिचान नहीं होती। पुरुषार्थनय से कहो या दैवनय से कहो, किन्तु जो मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे सब पुरुषार्थपूर्वक ही प्राप्त करते हैं। यदि अकेले दैव से ही मुक्ति हो, और पुरुषार्थ न हो तो उस जीव में एक दैवधर्म रहा किन्तु पुरुषार्थधर्म नहीं रहा, और पुरुषार्थवाले को अकेला पुरुषार्थ ही रहा;—किन्तु ऐसा नहीं होता; दोनों में दोनों धर्म हैं। एक जीव को अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति और दूसरे को अकेले दैव से—इसप्रकार पृथक्-पृथक् दो जीवों का वर्णन नहीं है; किन्तु एक ही जीव में अनंत धर्म एकसाथ विद्यमान हैं; उन धर्मों का यह वर्णन है। कथन में भले ही एक धर्म की मुख्यता आये, किन्तु उसी समय दूसरे अनन्त धर्म वस्तु में विद्यमान ही हैं। यदि एक धर्म को माने और दूसरे धर्मों को न माने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। वस्तु एकसाथ अनंतधर्मोंवाली है; उस वस्तु की दृष्टिपूर्वक यह नय है; इसलिये इन नयों द्वारा एक-एक धर्म का ज्ञान करनेवाले की दृष्टि उस एक धर्म पर नहीं होती, किन्तु सम्पूर्ण धर्मों पर (चैतन्यस्वभाव पर) होती है। कथन में यह धर्म एक के पश्चात् एक आते हैं, किन्तु वस्तु में कहीं एक के पश्चात् एक नहीं है, उसमें तो एक ही साथ समस्त धर्म हैं; यह सब धर्म आत्मद्रव्य के हैं; आत्मद्रव्य इन सब धर्मों को धारण कर रखता है। ऐसे अखण्ड आत्मद्रव्य को अंतरंगदृष्टि में लेना ही इन सब धर्मों के वर्णन का तात्पर्य है।

यहाँ आचार्यदेव ने नीबू के वृक्ष का दृष्टान्त देकर समझाया है। पुरुषार्थवादी ने नीबू के वृक्ष लगाये और उनमें से एक वृक्ष दैववादी को दिया; वहाँ दैववादी को उस नीबू के वृक्ष में से रत्नों की प्राप्ति हुई। उसी प्रकार यहाँ आत्मा ने अपने में प्रयत्न किया और कर्म टलने से चैतन्य-रत्न प्राप्त हुआ। दैववादी को नीबू के वृक्ष में से रत्नों की प्राप्ति हुई, उसका उसमें उस प्रकार का पुण्य है; उसी प्रकार यहाँ आत्मा ने अपने में प्रयत्न किया और कर्म टलने से चैतन्यरत्न प्राप्त हुआ। दृष्टान्त में दैववादी और पुरुषार्थवादी पृथक् हैं, किन्तु सिद्धान्त में दैवधर्म और पुरुषार्थधर्म कहीं पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं हैं, एक ही आत्मा के हैं। जिसने अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया, उसके कर्म की ओर का प्रयत्न न होने पर भी कर्म दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षरूपी रत्न की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु किसी जीव का पुरुषार्थ किसी अन्य जीव के काम आ जाये—ऐसा नहीं होता। दैवनय भी पुरुषार्थधर्म का निषेध नहीं करता। कोई अकेले दैव को ही मानकर पुरुषार्थ का निषेध करे तो वह एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

महाकाय हाथी के मस्तक में मोती उत्पन्न होते हैं। जिसप्रकार सिंह पंजा मारकर हाथी के

मस्तक को विदीर्ण कर देता है और मोती धरती पर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ आत्म – पुरुषार्थरूपी सिंह, कर्मरूपी कुंजर को विदीर्ण करके मोक्षरत्न प्राप्त कर लेता है। इसमें आत्मा ने पुरुषार्थ से जड़कर्मों को दूर कर दिया—ऐसा कहना, वह निमित्त से कथन है; और वह कर्म दूर होने से आत्मा की मुक्ति हुई—यह भी निमित्त से कथन है। आत्मा का पुरुषार्थ आत्मा में है और कर्म की अवस्था जड़ में है। आत्मा तो अपने स्वभाव का ही पुरुषार्थ करता है, वहाँ कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। इसमें कर्म को टालने की ओर जीव का यत्न नहीं है, तथापि कर्म दूर हो जाते हैं और मुक्ति हो जाती है; इसलिये अयत्नसाध्यधर्म कहा गया है।

दैव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टान्त इसप्रकार है:—दो मित्र थे; उन में एक था दैववादी और दूसरा पुरुषार्थवादी। एकबार दोनों किसी गाँव जा रहे थे; रास्ते में उन्हें खूब भूख लगी। दैववादी बोला कि मेरे दैव में होगा, तब भोजन मिल जायेगा। पुरुषार्थवादी कहने लगा कि मैं तो गाँव में जाकर भोजन का प्रयत्न करता हूँ। इतना कहकर वह गाँव में गया और दो लड्डू ले आया। उसने दैववादी से कहा कि देखो, मैं प्रयत्न करके लड्डू ले आया। फिर एक लड्डू अपने लिये रखकर दूसरा दैववादी को दिया। लड्डू पाकर दैववादी ने कहा कि देखो, अपने दैवानुसार मुझे लड्डू मिल गया। इस दृष्टान्त में वास्तव में दैववादी और पुरुषार्थवादी—दोनों को अपने पुण्य से लड्डू की प्राप्ति हुई है; किन्तु एक को पुरुषार्थ का विकल्प निमित्तरूप से है; इसलिये उसे पुरुषार्थ से लड्डू की प्राप्ति कही, और दूसरे को वैसा विकल्प नहीं है, इसलिये उसे बिना यत्न के दैव से लड्डू की प्राप्ति कही है। किन्तु दोनों में एक ही प्रकार है कि उस प्रकार का पुण्य हो तो प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यहाँ सिद्धान्त में पुण्य के स्थान पर पुरुषार्थ है। दैवनय में या पुरुषार्थनय में—दोनों में जीव के “पुरुषार्थपूर्वक” ही मोक्ष की प्राप्ति हुई है। किन्तु उसमें स्वभाव की ओर का प्रयत्न है, उस अपेक्षा से मोक्ष को यत्न-साध्य कहा है और कर्म की ओर का प्रयत्न नहीं है, उस अपेक्षा से अयत्नसाध्य कहा है। दैवनय से कथन हो या पुरुषार्थनय से—दोनों में यह तो एक ही प्रकार है कि दोनों के वैसा पुरुषार्थ है; स्वभाव के पुरुषार्थ बिना दो में से किसी को भी मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती।

पुरुषार्थ और दैव दोनों धर्मी को धारण करनेवाला आत्मा तो एक ही है, इसलिये दृष्टि में लेने योग्य आत्मा तो एक ही है। अभेद चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेना ही सब का सार है। शुद्धचैतन्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर एकाग्र होने से परिणमन का प्रवाह स्वोन्मुख हो जाता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मद्रव्य तो प्रमाण का विषय है; उसमें अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मों को जाननेवाले अनन्तनय हैं। उसमें एक-एक धर्म के लक्ष से प्रमाण नहीं होता किन्तु सम्पूर्ण धर्मों के लक्ष से प्रमाण होता है और उस प्रमाणपूर्वक ही नय होते हैं।

कभी आत्मा की पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और कभी दैव से—ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है। जैसे, कभी जीव की मुक्ति होती है और कभी पुद्गल की—ऐसा नहीं है, उसी प्रकार, कभी जीव के लक्ष से मुक्ति होती है और कभी जड़ के लक्ष से—ऐसा भी नहीं है; तथा कभी अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और कभी अकेले दैव से—ऐसा भी नहीं है। आत्मा में पुरुषार्थ और दैव दोनों एक साथ ही हैं। कर्म-पद्धति की ओर देखने से ही उसके धर्मों की प्रतीति होती है। आत्मा के ऐसे दैवधर्म को पहिचानने जाये तो वहाँ भी कर्म के आधारभूत धर्मों की (शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व की) दृष्टि करना ही आता है, इसलिये उसमें भी स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ आ जाता है। आत्मा के अनन्त धर्मों में से पुरुषार्थ आदि किसी एक धर्म को पृथक् करके लक्ष में ले तो उस के लक्ष से मुक्ति नहीं होती। अकेले पुरुषार्थधर्म के लक्ष से मुक्ति नहीं होती, इसलिये आत्मा अयत्न-साध्य है। इसलिये भेद की दृष्टि छोड़कर अखण्ड आत्मस्वरूप की दृष्टि करना ही तात्पर्य है। अयत्नसाध्यधर्म द्वारा आत्मा को जाने तो उस में भी शुद्धचैतन्यद्रव्य पर ही दृष्टि जाती है; क्योंकि अयत्नसाध्यधर्म उस से पृथक् नहीं है। इसप्रकार अयत्नसाध्यधर्म को जाननेवाले का ज्ञान भी शुद्धस्वभाव की ओर ढला होता है और उसी को दैवनय होता है।

यह समस्त नय साधक आत्मा के हैं, साधक के श्रुतज्ञान में ही नय होते हैं। केवली भगवान के नय नहीं होते, और अज्ञानी के भी नय नहीं होते। केवली भगवान को समस्त नयों का ज्ञान होता है किन्तु उनके अपने ज्ञान में नय नहीं होते।

कोई ऐसा कहे कि आत्मा के कार्य में आत्मा का प्रयत्न चलता है; इसलिये पुरुषार्थनय आत्मा में लागू करना चाहिये, और पर के कार्यों में आत्मा का प्रयत्न नहीं चलता, बाह्य संयोग-वियोग दैवानुसार होते रहते हैं; इसलिये दैवनय बाह्य में लागू करना चाहिये;—तो यह विवक्षा यहाँ लागू नहीं होती; क्योंकि यहाँ तो आत्मा के धर्मों का वर्णन है; इसलिये सर्व नय आत्मा में ही लागू होते हैं। यहाँ आत्मा के मोक्ष के लिये पुरुषार्थ और दैव—दोनों एक साथ बतलाना है; एक आत्मा में वे दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। इसलिये यहाँ जिस नय की जो विवक्षा है, वह जानना चाहिये।

—यहाँ ३३ वें दैवनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[१७]



अगुरुलघुत्वशक्ति



अब, आत्मा को अनंत शक्तियों में 'अगुरुलघुत्व' नाम की शक्ति है—उसका वर्णन करते हैं। षट्स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित और स्वरूपप्रतिष्ठितपने के कारणरूप जो विशिष्ट गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। आत्मा की पर्याय में छह प्रकार की वृद्धि-हानि होने पर भी यह अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहता है—ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है। यह सूक्ष्म स्वभाव केवलीगम्य है।

१. अनंतगुणवृद्धि

२. असंख्यगुणवृद्धि

३. संख्यातगुणवृद्धि

४. संख्यातभागवृद्धि

५. असंख्यभागवृद्धि

६. अनंतभागवृद्धि

१. अनंतभागहानि

२. असंख्यभागहानि

३. संख्यातभागहानि

४. संख्यातगुणहानि

५. असंख्यातगुणहानि

६. अनंतगुणहानि

—उपरोक्तानुसार छह प्रकार से वृद्धि तथा छह प्रकार से हानि होती है, उस रूप अगुरुलघु गुण का कोई सूक्ष्म परिणमन होता है, वह केवली गम्य है।

और इस अगुरुलघुत्वशक्ति के कारण द्रव्य अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहती है; वस्तु अपने स्वरूप में स्थिर रहती है। अनंत गुणों का भंडार आत्मा कदापि अपने स्वरूप को छोड़कर पररूप नहीं होता; उसके अनंत गुण बिखरकर छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। यह अगुरुलघु स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है, इसलिये द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथा नहीं हो

जाता; द्रव्य का कोई भी गुण अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य गुणरूप नहीं हो जाता; और द्रव्य की कोई भी पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं हो जाती,—सब अपने-अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। द्रव्य अनादि-अनन्त अपने स्वरूप में स्थित हैं, उसी से उसकी शोभा है। अपने द्रव्य की त्रैकालिक शोभा को भूलकर पर से अपनी शोभा मानकर जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है। उसे यहाँ आचार्यदेव, स्वभाव की शोभा बतलाते हैं—अरे जीव ! सुन्दर शरीरादि जड़ में तो तेरी शोभा नहीं है, और जीव संसार में भटका—ऐसी बंधन की बात करने में भी तेरी शोभा नहीं है; तेरा आत्मा अपने एकत्व शुद्धस्वरूप में प्रतिष्ठित है, उसी में तेरी त्रिकाली शोभा है; और उसकी पहिचान से पर्याय में शोभा प्रगट होती है। पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, यहाँ द्रव्य की बात है। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा से आत्मा त्रिकाल शोभायमान हो रहा है—ऐसा उसका अगुरुलघुत्व स्वभाव है। लोग बाह्य प्रतिष्ठा और शोभा से बड़प्पन मानते हैं, यहाँ आचार्य भगवान आत्मा की स्वरूपप्रतिष्ठा बतलाकर उसकी महिमा समझाते हैं; यह समझने से पर्याय भी द्रव्योन्मुख होकर निर्मलरूप से शोभित हो उठती है। इसके अतिरिक्त पैसे से, शरीर से, वस्त्र से या गहनों से—अरे ! पुण्य से भी आत्मा की शोभा मानना, वह सच्ची शोभा नहीं है किन्तु कलंक है। स्वरूप प्रतिष्ठित आत्मा स्वयं शोभायमान है, किसी दूसरे से उसकी शोभा नहीं है। आत्मा परमात्मा हो—इससे बढ़कर दूसरी कौन-सी शोभा होगी ! और जिसमें से अनंत काल तक परमात्मदशा प्रगट होती रहे—उस द्रव्यसामर्थ्य की शोभा की तो क्या बात की जाये !! महान शोभा त्रिकाली द्रव्य में है, उसी के आधार से पर्याय में शोभा प्रगट हो जाती है। सिद्धदशा—वह पर्याय की शोभा है, वह एक समयपर्यंत की है और द्रव्य की शोभा त्रिकाल है। एक समय की पर्याय में शोभा कब प्रगट होती है... ? त्रिकाल शोभायमान द्रव्य के सन्मुख दृष्टि करे तब ! जो ऐसा समझे, उसकी उन्मुखता द्रव्यस्वभाव की ओर हो जाती है, वह पर से अपनी शोभा नहीं मानता, इसलिये उसकी दृष्टि में पर के प्रति वीतरागभाव हो जाता है—इसप्रकार इसमें धर्म आता है।

आत्मा का ज्ञानपरिणमन घटते-घटते उस ज्ञान का सर्वथा अभाव होकर आत्मा जड़ हो जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता, और ज्ञानपरिणमन बढ़कर केवलज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान बढ़ता

ही रहे—ऐसा भी नहीं हो सकता और आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, उनमें से एक भी गुण कभी न्यूनाधिक नहीं होता। पर्याय में न्यूनाधिकता होने पर भी, त्रिकाली द्रव्य-गुण न्यूनाधिक नहीं होते। हीन अवस्था के समय आत्मा के कुछ गुण कम हो गये—ऐसा नहीं है और पूर्ण अवस्था प्रगट होने से आत्मा के गुण बढ़ गये, ऐसा भी नहीं है। एकरूप स्वरूप में प्रतिष्ठा से भगवान् आत्मा त्रिकाली महिमावन्त रूप से सुशोभित हो रहा है। ऐसे शोभायमान द्रव्य की दृष्टि करने से पर्याय में वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है; परन्तु उस पर्यायभेद पर दृष्टि नहीं है क्योंकि वह पर्याय स्वयं अन्तरोन्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य की शोभा में समा गई है।

आत्मा की अगुरुलघुशक्ति वस्तु को त्रिकाली स्वरूप में स्थिर रहने का कारण है। पूर्वकाल में निगोद अवस्था थी उससमय, साधक अवस्था के समय या सिद्धदशा के समय—सदैव आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है। आत्मा के अनन्तगुण हैं, वे सब अगुरुलघु-स्वभाववाले हैं। पर्याय में हानि-वृद्धि भले हो, परन्तु अनन्तगुण अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित हैं।—ऐसी स्वरूपप्रतिष्ठा अनादि-अनन्त है। जिसप्रकार जिनबिम्ब प्रतिष्ठा नवीन भी होती है और अनादिकालीन जिनबिम्ब भी जगत में है, उसी प्रकार भगवान् आत्मा चैतन्य जिनबिम्ब अनादि से अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है और उसके अवलम्बन से पर्याय में नवीन प्रतिष्ठा (निर्मलतारूपी शोभा) प्रगट होती है। इसप्रकार आत्मा का अगुरुलघु स्वभाव सदैव स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने का है। यह अगुरुलघुस्वभाव सम्पूर्ण द्रव्य में, उसके अनन्त गुणों में और समस्त पर्यायों में विद्यमान है। प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वभाव से अगुरुलघु है।

त्रिकाल ज्यों का त्यों ध्रुव, स्वरूपप्रतिष्ठा का कारण, सर्व गुणों को समतोल रखने का कारण, सर्व गुण-पर्यायों के आधारभूत—ऐसा एक स्वभाव अनादि-अनन्त है, वह समस्त गुण-पर्यायों में अभेद है; उसकी शोभा की अपार महिमा है। अहो! ऐसी महिमा से जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, वह जीव अकेली पर्याय की शोभा में ही सबकुछ अर्पण नहीं कर देता, परन्तु द्रव्य-गुण को भी साथ ही साथ रखता है। अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए, परन्तु वे कहाँ से हुए? त्रिकाली द्रव्य में सामर्थ्य था, उसमें से हुए हैं। इसलिये उस त्रिकाली सामर्थ्य का अपार

महात्म्य है। इसप्रकार त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव, पर्याय का समतौलपना बना रखता है। अज्ञानी जीव अकेली पर्याय की महिमा में अटक जाता है, द्रव्य की ध्रुव महिमा की उसे खबर नहीं है। श्री आचार्य कहते हैं कि हे भाई! अपने त्रिकाली स्वरूप से ही तेरी शोभा है—ऐसा हमने बतलाया है, उसे समझकर तू अकेली पर्याय के बहुमान में न रुककर त्रिकाली द्रव्य का बहुमान कर, ऐसा करने से द्रव्यदृष्टि में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें सहज ही प्रगट हो जायेंगी और तेरा आत्मा, पर्याय से भी सुशोभित हो उठेगा।

प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिसंपन्न चैतन्य परमेश्वर है। पैसा-मकान-स्त्री-परद्रव्य अथवा पुण्य, आत्मा की सच्ची सम्पत्ति नहीं है; चक्रवर्ती का वैभव या इन्द्रपद की विभूति के द्वारा आत्मा की महत्ता नहीं है, अपनी अनन्त शक्तिरूप शाश्वत सम्पत्ति—जो कि आत्मा से कभी पृथक् न हो—वही आत्मा की सच्ची सम्पत्ति है। वही आत्मा का सच्चा वैभव है और उसी से आत्मा की महत्ता है। ऐसे स्वभाव के बहुमान से पर्याय में ज्ञानादि प्रगट हों, उनका अभिमान नहीं होता; जिसे चैतन्य की महत्ता का भान नहीं है और जो तुच्छबुद्धि है, उसी को अल्प पर्याय का और पर का अभिमान होता है। पच्चीस-पचास वर्ष तक शरीर का संयोग रहे, उसी को अज्ञानी अपनी सारी जिन्दगी मानते हैं; परन्तु आत्मा तो अपनी अनन्तशक्ति से अनादि-अनन्त जीवन जीता है, यही उसकी सारी जिन्दगी है; और बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग आये, वहाँ अपनी सम्पत्ति मानकर अज्ञानी अभिमान करता है, किन्तु वह संयोग तो अल्पकाल रहकर छूट जानेवाला है, वह आत्मा के साथ स्थायीरूप से रहनेवाला नहीं है, इसलिये वह आत्मा की सम्पत्ति नहीं है, अनन्त गुणों का निधान भीतर त्रिकाल भरा हुआ है; उस शाश्वत सम्पदा को अज्ञानी नहीं पहिचानता। यदि उस निधान को पहचाने तो पर का अभिमान छूट जाये और अनादिकालीन हीनता का अन्त होकर सिद्धपद के निधान प्रगट हों। इसलिये त्रिकाली शक्ति की शोभा की महिमा करना ही सम्यग्दर्शन और सिद्धपद का उपाय है।

आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञानगुण है, वह भी त्रिकाल है, उसकी एक समय की पूर्ण निर्मल केवलज्ञान अवस्था में तीन काल-तीन लोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं—ऐसा उसका अनन्त सामर्थ्य है। अहो! अचिन्त्य सामर्थ्यवान और विकल्परहित ऐसा पूर्ण

शुद्धस्वभावरूप जो केवलज्ञान है, उसकी महिमा कितनी ? और जिस द्रव्य के आश्रय से वह केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसके अपार सामर्थ्य की महिमा की तो क्या बात !! केवलज्ञान होने के पश्चात् ज्यों की त्यों पर्याय प्रति समय होती रहती है। केवलज्ञान की एक पर्याय की अपेक्षा दूसरी पर्याय में जानने का सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता; सामर्थ्य ज्यों का त्यों रहता है, तथापि उसमें भी अगुरुलघुगुण का सूक्ष्म परिणमन तो प्रति समय होता ही रहता है—ऐसा ही कोई अचिंत्य स्वभाव है, वह केवली-गम्य है। देखो, यह केवलज्ञान की गंभीरता ! छद्मस्थ के ज्ञान में ही यदि सबकुछ ज्ञात हो जाये, तब फिर केवलज्ञान का माहात्म्य ही कहाँ रहा ? केवलज्ञान में जो ज्ञात होता है, वह सब छद्मस्थ नहीं जान सकता; परन्तु अपने आत्महित के लिये जो प्रयोजनभूत हो, उसे तो सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ भी बराबर निःसन्देहरूप से जान सकता है। आत्मा के अगुरुलघु स्वभाव का कोई ऐसा अचिंत्य सूक्ष्म परिणमन है, वह केवली गम्य है।

—यहाँ सत्रहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।



अरे जीव ! तूने अपने परमानन्दतत्त्व को अनादि से लक्ष में नहीं लिया, परमात्मदशा प्रगट होने की शक्ति मुझमें ही इससमय विद्यमान है—ऐसी प्रतीति कभी नहीं की, और पूर्वकाल में सत्समागम से यथार्थ रुचिपूर्वक उसका श्रवण भी नहीं किया। अन्तरस्वभावोन्मुख होकर प्रतीति और अनुभव करने से ज्ञात होता है कि अहो ! सर्वज्ञता का सामर्थ्य मुझमें ही विद्यमान है, उसी में से मेरी सर्वज्ञता व्यक्त होती है। अल्पज्ञता के समय भी सर्वज्ञता का सामर्थ्य मेरे स्वभाव में नित्य भरा है; ऐसे अंतरस्वभाव को प्रतीति में लेकर उसका अवलम्बन करने से सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है, इसके सिवा अन्य किसी भी साधन से सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती।

जन्म-मरण का अन्त

अनन्तानन्त भव कर लेने पर भी कहीं जीव का अन्त नहीं आया; तो अब विचार करना चाहिये कि कोई अपूर्व समझ की बात बाकी रह गई है। अन्तर में लालसा जागृत होना चाहिये कि अरे रे! अनन्तानन्तकाल से मेरा आत्मा इस जन्म-मरण के चक्कर में घूम रहा है; तो अब उसका अन्त कैसे आये? जिसे ऐसी जिज्ञासा जागृत हो, वह धर्म का उपाय ढूँढ़ता है।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का भान हो जाने के पश्चात् जिन्होंने पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की—ऐसे सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में अनिच्छा से सहजतया ऐसा उपदेश निकला कि—हे आत्मा! तूने अनन्तकाल में एक क्षण भी पर से पृथक् आत्मा का भान नहीं किया है। मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं है—ऐसा भान कभी नहीं किया, और मैं जड़ की क्रिया का कर्ता हूँ, जड़ की क्रिया मेरी है;—इसप्रकार अज्ञानी अनादि से मानता है; किन्तु जीव की इच्छानुसार देहादि की क्रियाएँ नहीं होतीं। इच्छा न होने पर भी रोग होता है; उसे मिटाने की इच्छा करता है, तथापि वह नहीं मिटता। भगवान! एक बार निर्णय तो कर कि जड़ की क्रिया मेरी नहीं है, मैं तो ज्ञान हूँ। अरे! अन्तर में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है।

दया-पूजा-भक्ति आदि के जो भाव होते हैं, वे पुण्यभाव हैं, और हिंसा-झूठ-चोरी आदि के भाव पापभाव हैं; वे पुण्य और पाप दोनों विकारभाव हैं; तेरा ज्ञानानन्दस्वरूप उनसे पृथक् है—यह बात कभी सुनने में नहीं आई; कभी सुनने को मिली, किन्तु उस समय अन्तर से इन्कार किया, इसलिये वास्तविकरूप से कभी नहीं सुनी। यदि एकबार भी सत्समागम से श्रवण-मनन करके, पर से और विकार से भिन्न चैतन्यस्वरूप को पहिचाने और प्रतीति करे तो धर्म का प्रारम्भ हो। यह अपूर्व वस्तु है। अनन्तानन्त भव किये, तथापि कहीं अन्त नहीं आया; तो कोई अपूर्व समझ बाकी रह गई है। अन्तर से लालसा जागृत होना चाहिये कि अरे रे! अनादिकाल से मेरा आत्मा इस जन्म-मरण के चक्कर में फँसा है, तो अब उसका अन्त कैसे आये?—ऐसे पराधीन अवतार से छूटकर आत्मा की शांति कैसे हो?—ऐसी जिज्ञासा जिसे जागृत हो, वह धर्म का उपाय ढूँढ़ता है। भाई! बाह्य में तेरे सुख का साधन नहीं है; तेरा सुख तो अन्तर के चिदानन्दस्वभाव में है। जो सिद्ध

परमात्मा हुए, वे सब अपने आत्मा में से सिद्धत्व प्रगट करके हुए हैं; आत्मा में पूर्णानन्द की शक्ति भरी है; उसी में से वह प्रगट होती है। ऐसे पूर्णानन्दस्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी प्रतीति करना, वह प्रथम धर्म है। जो एक क्षण भी ऐसा धर्म करे, उसके जन्म-मरण का अन्त आ जाये। ऐसी प्रतीति किये बिना अन्य चाहे जितना करे, तथापि जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। भाई! चैतन्य के पन्थ चैतन्य में हैं, अन्तर का मार्ग बाह्य उपायों से प्रगट नहीं हो सकता। बापू! यह अन्तर की बात है, अपूर्व सम्यग्दर्शन और आत्मशांति की बात अनन्तकाल में कभी प्रीतिपूर्वक सुनी भी नहीं है। अन्तर में रुचि करके सुने तो आठ वर्ष की कुमारिका भी समझ सकती है। अरे! यह देह मैं नहीं हूँ, यह संयोगों के ठाठमाठ मेरे नहीं हैं और अन्तर की पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्तियों जितना भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप से भरपूर आत्मा हूँ—ऐसा अपूर्व आत्मज्ञान आठ वर्ष की राजकुमारियाँ भी कर सकती हैं। ऐसे अपूर्व ज्ञान के बिना त्यागी हो जाये और शुभभाव करे, तथापि उसमें आत्मा की सच्ची पहिचान का उपाय करना, वह मूल वस्तु है; इसके सिवा पुण्य तो अनन्तबार कर चुका है, वह कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। विभाव क्या और स्वभाव क्या;—उसका बँटबारा करके जबतक स्वभाव में एकाग्र न हो, तबतक धर्म नहीं होता।

[—उमराला नगरी में वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय ज्येष्ठ शुक्ला तीज के दिन पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]



अनन्तबार पुण्य करने पर भी जीव का संसारभ्रमण नहीं अटका, इसलिये निर्णय करना चाहिये कि पुण्य, वह संसारभ्रमण से छूटने का उपाय नहीं है। वीतरागी चैतन्यस्वभाव को भूलकर पर से या पुण्य से आत्मा को किंचित् भी धर्म का लाभ होता है—ऐसी मान्यता ही संसारभ्रमण का मूलकारण है। चैतन्यस्वभाव की पहिचान करके उस मूलकारण को छेदे बिना जीव अन्य जो भी उपाय करता है, वे सब संसार के ही कारण होते हैं।

‘केवली भगवान का प्रसाद’

[श्री महावीर-निर्वाण-महोत्सव प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त
भाववाही मंगल प्रवचन से] वीर सं. २४८१

भगवान महावीर स्वामी आज मोक्षदशा को प्राप्त हुए; केवलीज्ञान तो उन्हें बहुत वर्ष पहले हो गया था; तत्पश्चात् तीस वर्ष तक अरिहंतपद पर तीर्थकररूप से रहे और आज (कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल) पावापुरी में भगवान अशरीरी सिद्धदशा को प्राप्त हुए। भगवान के गणधर श्री गौतम स्वामी ने भी आज के ही दिन केवलज्ञान प्राप्त किया... अरिहंतपद प्राप्त किया।

...किन्तु, “महावीर स्वामी निर्वाणपद प्राप्त करके सिद्ध हुए और गौतम गणधर केवलज्ञान प्राप्त करके अरिहंत हुए—उसमें इस आत्मा को क्या ?”—तो कहते हैं कि—इस बात का जिसने निर्णय किया, अर्थात् आत्मा की पूर्ण शुद्ध सिद्धदशा, तथा ज्ञान की पूर्णदशारूप केवलज्ञान इस जगत में है—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने अपने आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वभाव का निर्णय किया... इसलिये सिद्धदशा और केवलज्ञान का उपाय उसके आत्मा में प्रारम्भ हो गया... वह भगवान का नन्दन हुआ, उसे सर्वज्ञभगवान का प्रसाद मिल गया।

अहो, आज ही भगवान महावीर सिद्ध हुए... आज ही गौतमप्रभु अरिहंत हुए... भगवान को जो सिद्धदशा और अरिहंतदशा प्रगट हुई है, वह अपने आत्मा के सामर्थ्य में से ही प्रगट हुई है, बाहर से नहीं आई;—ऐसा निर्णय करके, “...मेरे आत्मा में भी पूर्ण दशा प्रगट होने का सामर्थ्य विद्यमान है; मैं राग जितना या अपूर्ण दशा जितना नहीं हूँ किन्तु परमात्मदशा प्रगट होने के सामर्थ्य का पिण्ड हूँ”—इसप्रकार अपने स्वभावसामर्थ्य का विश्वास करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। भगवान को पूर्ण केवलज्ञान सूर्य विकसित हो गया है और इस आत्मा को वह केवलज्ञान प्रभात उदित होने का प्रातःकाल हुआ है। अनादिकालीन मिथ्यात्व का अंधकार दूर होकर सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ केवलज्ञान प्रभात की पौ फटी... और अब अल्पकाल में उसे पूर्ण केवलज्ञान ज्ञान सूर्य विकसित हो गया।—देखो, सर्वज्ञ भगवान की पहिचान का यह फल !

सिद्ध होने से पूर्व महावीर भगवान सर्वज्ञ तीर्थकररूप से इस भरतक्षेत्र में विचरते थे; उस समय उनकी दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश आता था कि—“आत्मा में ही मुक्त होने की शक्ति भरी है... पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होने का सामर्थ्य आत्मा के स्वभाव में ही है... उसकी प्रतीति करो...

उसकी सन्मुखता करो...” भगवान का ऐसा उपदेश झेलकर सुपात्र जीव अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त हुए... वहाँ वे कहते हैं कि अहो ! सर्वज्ञ भगवान के प्रसाद से हम आत्मबोध को प्राप्त हुए ! हे नाथ ! आपकी हम पर प्रसन्नता हुई... केवली भगवान के प्रसाद से हमें आत्मबोध हुआ... हे नाथ ! हमारे ऊपर आपकी करुणा हुई... महरबानी हुई... कृपा हुई।—“ऐसा कौन कहते हैं ?” अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि और प्रतीति करके जिन्होंने अपने आत्मा की प्रसन्नता प्राप्त की है—आत्मा के आनन्द का अनुभव किया है—ऐसे ज्ञानी-धर्मात्मा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अहो ! केवली भगवान हम पर प्रसन्न हुए... हम पर उनकी कृपा हुई... हमें भगवान का प्रसाद मिल गया। हे भगवान ! आज आप प्रसन्न हुए... आज आपकी कृपा हुई... हे भगवान ! आपकी कृपा से ही आज हमारे भव-भ्रमण का अन्त आया। भगवान तो वीतराग हैं, उन्हें किसी पर करुणा का राग नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्वी को भगवान के प्रति और अपने गुरु के प्रति ऐसा भक्ति का आह्लाद आये बिना नहीं रहता। हे नाथ ! “तुम्हारी कृपा से हमें आत्मबोध प्राप्त हुआ और अब अल्पकाल में हमारे भव का नाश होकर मुक्तदशा होना है—ऐसा ही आपने केवलज्ञान में देखा है”—यही आपकी हम पर अकषायी करुणा है, यही आपकी प्रसन्नता और कृपा है।

आत्मा के लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी जो मुक्ति का मार्ग है, उसके बोध का निमित्त सर्वज्ञभगवान की वाणी है; वह वाणी यथार्थरूप से झेलकर जिन्होंने अंतरस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट की,—ऐसे धर्मात्मा-साधु-सज्जन-सम्यक्त्वी-संत कहते हैं कि हे नाथ ! आप तो केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करके परमानन्द से तृप्त... तृप्त हो गये... और हम पर करुणा करके हमें उस आनन्द का प्रसाद दिया... आपके प्रताप से हमें भी अपनी सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति हुई... हमें अपने आनन्द का भान हुआ... इसप्रकार, आप वीतराग होने पर भी हे नाथ ! हमारी प्रसन्नता के कारण हैं...

देखो, साधुपुरुष अर्थात् सज्जन (सत्-जन)—सम्यक्त्वी धर्मात्मा कृतज्ञ हैं; आत्मा के श्रेयमार्ग में जिन्होंने उपकार किया, उन्हें कभी भूलते नहीं हैं। भगवान के निमित्त से अपने को रत्नत्रयभाव प्रगट हुआ और आत्मा की प्रसन्नता प्रगट हुई, वहाँ कहते हैं कि अहो ! हम पर भगवान की कृपा हुई। अपने में प्रसन्नता हुई, वहाँ भगवान की प्रसन्नता का भी आरोप किया कि—भगवान हम पर प्रसन्न हुए।

हे महावीर भगवान! आप आज सिद्ध हुए, हे गौतम भगवान! आज आपने केवलज्ञान प्राप्त किया है, हे भगवान! आपकी प्रसन्नता प्राप्त करके मैं आत्मबोध को प्राप्त हुआ... हे नाथ! मैं भी आपके पदों का अनुसरण करता चला आ रहा हूँ...

देखो, यह दीपावली का प्रसाद बाँटा जा रहा है! लोग लक्ष्मी की प्रसन्नता चाहते हैं; यहाँ तो कहते हैं कि सर्वज्ञभगवान हम पर प्रसन्न हुए... आज हमें सामने से आते हुए भगवान की भेंट हो गई (-दृष्टि में सन्मुख हो गये); बाहर निकलते ही आज भगवान की भेंट हो गई—शक्ति में तो भगवान थे, किन्तु व्यक्त पर्याय में प्रतीत करते ही भगवान की भेंट हो गई... भगवान का साक्षात्कार हो गया... अहो नाथ! अंतरशक्ति के अवलम्बन से आप सर्वज्ञ हुए और हमें वह मार्ग बतलाया। हे नाथ! आपकी प्रसन्नता से हम भी आपके ही मार्ग पर चले आ रहे हैं... ”

—देखा, यह निःशंकता का मार्ग!

महावीर भगवान की मुक्ति को आज २४८१ वाँ वर्ष लग गया है। अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके भक्त कहते हैं कि हे भगवान! आप तो आत्मा के अतीन्द्रिय परमानन्द के पूर्ण भोक्ता हो गये हैं और हमारे लिये थोड़ा प्रसाद छोड़ते गये हैं... हे भगवान! आपकी प्रसन्नता हमें भी आप के अतीन्द्रियआनन्द का प्रसाद मिल गया है... इसप्रकार सम्यक्त्वी भक्तिपर्वक भगवान के आनन्द का प्रसाद मानता है।

—यह है भगवान का दीपावली का प्रसाद!

भगवान जैसे अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति करके, स्वसन्मुख होकर जिसने सम्यग्दर्शन और अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन प्रगट किया, उसी ने वास्तव में भगवान की मुक्ति का महोत्सव मनाया है... उस पर भगवान प्रसन्न हुए हैं और उसी को भगवान का प्रसाद प्राप्त हुआ। ‘उस अतीन्द्रिय प्रसाद के दाता और प्राप्तकर्ता—दोनों की जय हो—जय हो!’ ●●



धर्म का प्रारम्भ कैसे होता है ?

[बांका नेर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय
चैत्र शुक्ला १० के दिन पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

शुद्ध आत्मा का अनुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?—उसकी यह बात है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उसका भान करके उसमें लीनता द्वारा भगवान ने सर्वज्ञता और परिपूर्ण शांति प्रगट की। यह आत्मा भी ऐसी परिपूर्ण शान्ति प्रगट करना चाहता है और अशान्ति दूर करना चाहता है। तो जो शांति प्रगट करना चाहता है, वह शांति अपने स्वभाव में ही भरी है। पुण्य-पाप-आस्रव और बंध, वह अशान्ति है और संवर-निर्जरा मोक्ष, वह शान्ति है। अपने ज्ञानानंदस्वभाव में ही शांति भरी है, किन्तु अपने स्वभाव की यथार्थ बात जीव ने कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है। इसलिये आचार्यदेव समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि—

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा ।

एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

अनादिकाल में चैतन्यस्वभाव से च्युत होकर जीव ने “संयोग में और पुण्य-पाप में सुख है” —ऐसी विपरीत रुचि की है, अर्थात् उसी की बात प्रीतिपूर्वक सुनी है; किन्तु “संयोग और पुण्य-पाप से पार मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही मेरा सुख है” —ऐसी यथार्थ रुचि कभी नहीं की; इसलिये उसकी बात भी प्रीतिपूर्वक कभी नहीं सुनी।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से तो संवर-निर्जरा-मोक्षरूपी निर्मलदशा प्रगट हो—ऐसा उसका स्वभाव है। जो आस्रव-बन्ध के भाव होते हैं, वे चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट नहीं होते, किन्तु पर के अवलम्बन से प्रगट होते हैं।

शंका—परद्रव्य के अवलम्बन से राग होता है तो पंचकल्याणिकादि उत्सव ज्ञानी जीव किसलिये करते हैं ?

समाधान—इन्द्र एकावतारी होता है, लाखों विमान का स्वामी है, किन्तु अन्तर में ज्ञानानन्द स्वभाव का भान है; मति-श्रुत-अवधि ज्ञान सहित है। जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब जगत में आश्चर्य की खलबली मच जाती है; इन्द्र को अवधिज्ञान से खबर पड़ती है कि अहो ! त्रिलोकीनाथ

तीर्थंकर का अवतार हुआ है। वह तुरन्त ही सात डग आगे बढ़कर भगवान को नमस्कार करता है और फिर उनका जन्मकल्याणक महोत्सव मनाने आता है। वह भगवान को देखते ही भक्ति से नाच उठता है। धर्मात्मा को धर्म का ऐसा उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता। जिसे धर्म की प्रीति हो, उसे धर्मात्मा के प्रति आदरभाव आये बिना नहीं रहता। किन्तु धर्मी को अन्तर में भान है कि मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप का स्वाद तो इस राग से भी पार है। रागरहित अतीन्द्रिय शांति का स्वाद आये, उसका नाम धर्म है।

पर्याय में रागादि भाव दिखाई देते हैं—बंधन दिखाई देता है, तथापि उससे रहित अबन्ध ज्ञानस्वभाव का अनुभव कैसे हो सकता है?—ऐसा शिष्य ने पूछा है। उसे यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! रागादि भावों या कर्मों का संयोग तेरे ज्ञानस्वभाव के साथ एकमेक नहीं हो गया है—तेरे भूतार्थस्वभाव में वे रागादि भाव प्रविष्ट नहीं हो गये हैं, किन्तु पृथक् ही हैं; इसलिये आत्मा के भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर अनुभव करने से राग और बंधरहित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है और शुद्धनय से ऐसे आत्मा का अनुभव करना—उसका नाम सम्यग्दर्शन है, वही धर्म का प्रारम्भ है। इसके सिवा शुभराग से अन्य चाहे जो करे, वह पुण्यबन्ध का कारण है, किन्तु उसमें धर्म किंचित् भी नहीं है। धर्म तो ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही होता है।

अपने भूतार्थस्वभाव को चूककर अनादिकाल से पर को और विकार को अपना मानकर उसे रखना चाहता है, किन्तु एक रजकण भी आत्मा का नहीं हुआ, वे तो त्रिकाल आत्मा से पृथक् ही हैं; और पर्याय में अनादिकाल से पुण्य-पाप के भाव करता आ रहा है, किन्तु अन्तर के ध्रुवस्वभाव के साथ वे एकमेक नहीं हो गये हैं; वे विकारी भाव तो ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, किन्तु स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होते। जिस प्रकार पानी में तेल ऊपर ही तैरता है, उसी प्रकार चिदानन्दस्वभाव में पुण्य-पाप के भाव भीतर प्रविष्ट नहीं होते—बाहर ही रहते हैं। इसलिये अंतरस्वभावोन्मुख होकर रागरहित स्वभाव का अनुभव हो सकता है। अज्ञानी पुण्य-पाप के भावों में ही एकता मानकर उन्हीं का अनुभव करता है, इसलिये उसे पुण्य-पाप से रहित चिदानन्दस्वभाव का अनुभव नहीं होता। धर्मी को पुण्य-पाप के भाव होने पर भी, उसी समय पुण्य-पाप से पार चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि पड़ी है, इसलिये भूतार्थस्वभाव की दृष्टि में वह अपने आत्मा का रागरहित शुद्धरूप से अनुभव करता है। इस प्रकार अंतर्मुख होकर शुद्धनय द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है और ऐसे अनुभव से धर्म का प्रारंभ होता है। ●●

संत आत्मा के आनन्द में लीन होते हैं

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के ध्यानरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का कारण है, और उसके सिवा अन्य सब संसार का कारण है;—ऐसा जानकर बुद्धिमान जीव सहज चिदानन्दस्वरूप का आश्रय करता है। स्वभाव का आश्रय करके एकाग्र होने से उसके अंतर में सहजानंदरूपी अमृत का समुद्र उछलता है—आनंद की लहरों में आत्मा मग्न होता है। वही मोक्ष का कारण है।

अहो ! भगवान आत्मा अनाकुल अकषायी शांतस्वरूप है, आनन्द का सागर है—ऐसे आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूप ध्यान के सिवा अन्य सब घोर संसार का कारण हैं। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की सन्मुखता के सिवा जितनी राग-द्वेष की वृत्तियाँ उठती हैं—वह सब मोक्ष का नहीं किन्तु संसार का कारण है। एक भगवान आत्मा ही धर्म का माल है; आत्मा के स्वभाव का आश्रय ही एक मोक्ष का कारण है। मुनियों को या गृहस्थों को—सब को एक ही मोक्षमार्ग है। गृहस्थ सम्यक्त्वी को भी चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म है; इसके सिवा अन्य जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे सब संसार का कारण हैं। दो भाग कर दिये हैं:—एक ओर मोक्ष का मूल और दूसरी ओर संसार का मूल। चिदानन्दस्वभाव कारणपरमात्मा का आश्रय, वह मोक्षमार्ग है, और इसके सिवा अन्य सब संसार का मार्ग है। चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता के सिवा किसी भी दूसरे के आश्रय से जो मोक्षमार्ग मानता है, वह घोर संसार में भटकता है। धर्मात्मा को भूमिकानुसार अमुक राग आता है, किन्तु वे राग को मोक्ष का कारण नहीं मानते, उसे बंध का ही कारण समझते हैं।

मेरे आत्मा के सिवा बाह्य में कहीं मोक्ष का कारण नहीं है; ऐसा जानकर संत, पर का आश्रय छोड़ते हैं और आनंदस्वरूप आत्मा का ही आश्रय करते हैं। विकल्प टूटकर चैतन्य में जितनी एकाग्रता उतना ही, मोक्ष का कारण है; और बीच में जो ध्यान-ध्येय के विकल्प उठते हैं, वह भी बन्ध का ही कारण है। व्यवहाररत्नत्रय का शुभविकल्प भी कल्पनामात्र रम्य है; धर्मात्मा को तो वास्तव में अपना निर्मलस्वभाव ही रम्य है। व्यवहार का शुभविकल्प तो कल्पना मात्र रम्य है, फिर उसके आश्रय से मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता; वह तो संसार का ही कारण है।

ज्ञानानन्द आत्मा के ध्यानरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का कारण है, और उसके सिवा अन्य सब संसार का कारण है;—ऐसा जो जानता है, वही जीव वास्तव में बुद्धिमान है। इसके सिवा व्यवहार के राग को जो मोक्ष का कारण मानता है, वह कुबुद्धि है। चिदानन्दस्वभाव के

आश्रयरूप ध्यान को ही मुक्ति का कारण जानकर वे सम्यग्दृष्टि बुद्धिमान सहज परमानन्दरूपी अमृत के समुद्र में मग्न ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं। देखो, ज्ञायकमूर्ति आत्मा का आश्रय करके एकाग्र होने से धर्मात्मा के अन्तर में सहजानन्दरूपी अमृत का समुद्र उछलता है, आनन्द के सागर में आत्मा मग्न हो जाता है और वही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—वे तीनों अभेद स्वभाव के आश्रय से ही होते हैं; इसलिये अभेद स्वभाव के आश्रयरूप जो ध्यान है, वही मोक्ष का कारण है। इसप्रकार आत्मध्यान के सिवाव अन्य घोर संसार का मूल है—ऐसा जानकर संत आत्मा के आनन्द में लीन होते हैं। “ऐसा ही मोक्षमार्ग है”—इसप्रकार पहले अन्तर में बराबर निर्णय करना चाहिये; फिर एकाग्रता होती है। अभी तो निर्णय में ही जिसकी भूल हो, राग को मोक्ष का कारण मानता हो, उसके राग से पृथक् होकर स्वभाव में एकाग्रता का उद्यम कहाँ से होगा? ज्ञानानन्दस्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्रता करने से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है और मिथ्यात्वादि का प्रतिक्रमण हो जाता है।—यह धर्म और मोक्ष का कारण है।

[नियमसार कलश : १३३ के प्रवचन से]



जैसा सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है, वैसे ही स्वभाववाला आत्मा इस देह में विद्यमान है। सिद्धभगवान में और इस आत्मा के स्वभाव में परमार्थतः कोई अंतर नहीं है; जितना सामर्थ्य सिद्धभगवान के आत्मा में है उतना ही प्रत्येक आत्मा में भरा है। सिद्धपरमात्मा अपने स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट करके मुक्त हो गये हैं, और अज्ञानी जीव अपने स्वभावसामर्थ्य को भूलकर रागादि में ही अपनापन मानकर संसार में भटक रहे हैं।



परम पुरुषार्थपरायण धर्मात्मा का प्रतिक्रमण

[चैत्र कृष्ण १० वीं के दिन प्रवचन से (नियमसार गाथा ९१)]

चिदानंदतत्त्व का भान करके अपने आता में जिसने ज्ञानदीप प्रगट किये और अज्ञान अंधकार का नाश किया वही “धर्मदिवाकर” है... वह जीव शुद्ध रत्नत्रय के परम पुरुषार्थ में प्रवीण है और उसी के मिथ्यात्वादि भावों का सच्चा प्रतिक्रमण होता है।

यह प्रतिक्रमण का अधिकार है।

सब से पहला प्रतिक्रमण मिथ्यात्व का होता है। आत्मा का भान करके अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही अनादिकालीन मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा प्रतिक्रमण या धर्म नहीं हो सकता।

भवचक्र का नाश करनेवाली अपूर्व भावना

जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्वादि भावों की भावना भायी है, किन्तु चिदानंदस्वभाव का आश्रय करके सम्यक्त्वादि भावों की भावना पूर्वकाल में कभी नहीं की। अति आसन्नभव्य मुमुक्षु जीव उन मिथ्यात्वादि भावों को छोड़कर, अपने परमात्मतत्त्व के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि भावोंरूप परिणमित होते हैं, यही उनका प्रतिक्रमण है। चिदानंदतत्त्व के आश्रय से जो सम्यक्त्वादि की भावना है, वह भवभ्रमण का नाश करनेवाली है। ऐसी भावनावाला जीव अति आसन्नभव्य है, अर्थात् वह अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है।

आनन्द लक्षणवाला आत्मा

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि भगवान आत्मा सदैव आनन्द लक्षणवाला आत्मा है। आनन्द आत्मा का लक्षण है; किसप्रकार?—तो कहते हैं कि ज्ञान अन्तर्मुख होकर आनन्द को पकड़ता है—आनन्द में एकाग्र होता है। अंतर्मुख होकर आत्मा को पकड़ने से अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है, इसलिये आनन्द को ही आत्मा का लक्षण कहा है; किन्तु जब ज्ञान अन्तर्मुख होकर लक्ष्य को ग्रहण करता है, तब उस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द न हो—ऐसा नहीं होता। इसलिये ज्ञान की भाँति आनन्द भी आत्मा का लक्षण है।

भगवान् कारणपरमात्मा तो नित्य आनन्द लक्षणवाला है—सदैव अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, और अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान, वह सम्यक्ज्ञान है और आनन्द में लीनता, वह सम्यक्चारित्र है।

परम पुरुषार्थपरायण जीव का प्रतिक्रमण

भगवान् परमात्मसुख का अभिलाषी ऐसा “परमपुरुषार्थ परायण भव्य जीव” चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से निश्चयरत्नत्रय की भावना करता है। भगवान् कारणपरमात्मा के आश्रय से होनेवाले श्रद्धा-ज्ञान-रमणतास्वरूप निश्चयरत्नत्रय है। जो ऐसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप आत्मा की भावना करता है, उसके अनादिकालीन मिथ्यात्वादि भावों का प्रतिक्रमण होने से यह जीव प्रतिक्रमण स्वरूप है। परमपुरुषार्थ परायण धर्मात्मा के ऐसा प्रतिक्रमण होता है।

आनन्दमूर्ति भगवान् कारणपरमात्मा की भावना द्वारा जो जीव सम्यक्त्वादि प्रगट करके मिथ्यात्वादि भावों को छोड़ता है, वही परमपुरुषार्थ में परायण है। जो जीव, राग में लीन है—व्यवहार में लीन है, वह जीव परम पुरुषार्थ में परायण नहीं है; किन्तु विपरीत पुरुषार्थवाला है; उसे प्रतिक्रमण नहीं होता। जिसने चिदानन्दस्वभाव में एकाग्रता करके उसका अवलम्बन लिया और राग का अवलम्बन छोड़ा, वह जीव शुद्धरत्नत्रय के परमपुरुषार्थ में प्रवीण है, और उसी को अनादिकालीन मिथ्यात्वभावों का सच्चा प्रतिक्रमण होता है।

अति आसन्नभव्य जीव को परमपुरुषार्थ में प्रवीणता से अंतर में एकाग्रता द्वारा ऐसा सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमन हो जाता है; अंतरस्वभाव की रुचि के बल से अन्तर्मुखी होकर आत्मा स्वयं सम्यक् रत्नत्रयरूप से परिणमित हो जाता है; वहाँ स्मरण नहीं रखना पड़ता—गोखना नहीं पड़ता किन्तु जहाँ अंतर का आश्रय वर्तता है, वहाँ सहज ही सम्यग्दर्शनादि रूप परिणमन होता है।

“धर्म दिवाकर”

ज्ञान को अन्तर्मुख करके जिसने आत्मा में प्रकाश किया—ज्ञानदीप द्वारा आत्मा को प्रकाशित किया, वह वास्तव में “धर्म दिवाकर” है; जिसे अभी ज्ञानप्रकाशी आत्मा का भान नहीं है, आत्मा में ज्ञानदीप का प्रकाश प्रगट नहीं किया और अज्ञान-अंधकार दूर नहीं किया, वह “धर्म दिवाकर” कैसा? पैसा खर्च करे और लोग मिलकर “धर्म दिवाकर” की पदवी दे दें तो उससे कहीं आत्मा में धर्मदीप प्रगट नहीं होते। चिदानंदतत्त्व का भान करके जिसने अपने आत्मा में ज्ञानदीप प्रगट किया और अज्ञान अंधकार का नाश किया, वही “धर्म दिवाकर” है। ●●

जगत के प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्वगुण होने से उसका परिणमन स्वतंत्ररूप से हो ही रहा है; कोई दूसरा द्रव्य उसे परिणमित नहीं करता, अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु का किंचित् भी नहीं कर सकती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता है—ऐसा जो मानता है, उसने वस्तु के द्रव्यत्वगुण को नहीं जाना अर्थात् वस्तुस्वरूप को नहीं जाना। जड़ या चेतन प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय अपने स्वरूप से ही स्वतंत्र परिणमन हो रहा है। ज्ञान हो तभी वस्तु का परिणमन होता है—ऐसा नहीं है। जड़ वस्तु में ज्ञान न होने पर भी द्रव्यत्वशक्ति के कारण उस जड़ वस्तु में भी प्रतिसमय अपने कारण से स्वतंत्र परिणमन हो रहा है—उसका कर्ता कोई दूसरा नहीं है।

एक नया प्रकाशन

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

उपरोक्त पुस्तक में क्रमबद्धपर्याय सम्बन्धी पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तेरह प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं और तत्सम्बन्धी विषय के अन्य प्रवचनों का भी संग्रह किया गया है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव बतलाकर अन्तर्मुखदृष्टि करानेवाले पूज्य गुरुदेव के इन प्रवचनों का मुमुक्षुओं को अवश्य स्वाध्याय करना चाहिये। यह प्रवचन 'आत्मधर्म' में भी प्रकाशित हो चुके हैं।

पृष्ठ संख्या : ३७६

मूल्य : २-८-०

प्राप्तिस्थान

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर

प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी